International Journal on Science and Technology (IJSAT)
E-ISSN: 2229-7677 ● Website: www.ijsat.org ● Email: editor@ijsat.org

प्राचीन तथा वर्तमान भारतीय न्याय व्यवस्था में न्यायिक पीठ की भूमिका का तुलनात्मक विवेचन

डॉ राजेंद्र प्रसाद अग्रवाल

एम.एससी. (भौतिक विज्ञान), नेट–जेआरएफ, बी.एड. पी.एचडी. (लोक प्रशासन)
विशिष्ट सहायक, माननीय जल संसाधन कैबिनेट मंत्री राजस्थान सरकार के अधीन राजस्थान प्रशासनिक सेवा संवर्ग अधिकारी के रूप में सेवारत एवं पूर्व में तहसीलदार, एसडीएम एवं एडीएम रहते हुए 25 वर्ष का न्यायिक अनुभव

सारांश

न्यायालय एवं न्यायिक पीठ स्थापित कर "न्याय" प्रदत्त करना शासन का एक महत्त्वपूर्व दायित्व है। न्याय तंत्र में न्यायिक पीठ की संरचना एवं स्वरुप का समाज पर प्रत्यक्ष एवं दूरगामी प्रभाव पड़ता है। सुलभ न्याय एवं न्यायाधीश हेतु विहित विधि–निषेध का अनुपालन सामाजिक स्थायित्व एवं राज्य की आर्थिक समृद्धि में झलकता है। इस आलेख में न्याय निर्णयन में तत्परता, निष्पक्षता, पारदर्शिता एवं जनविश्वास के अध्ययन हेतु ऐतिहासिक ग्रंथों, विभिन्न स्मृतियों, आचार्यों एवं व्यवस्थाकारों के भाष्य तथा वर्तमान न्याय विधानों और समकालीन घटनाओं की तुलना कर निष्कर्ष निकाले गए हैं। प्राचीन भारत के सोपानीकृत न्यायालय ढांचे में सीमित न्यायिक संस्थाओं के साथ बहुसदस्यीय न्यायकर्ताओं की उपस्थिति से समाज में सकारात्मक बदलाव देखे गए। प्राचीन न्यायिक तंत्र में सत्ता के नियंत्रण के बावजूद निर्णयन कार्य शासन के दखल से स्वतंत्र था। हिन्दू विधानों के विपरीत ब्रिटिश न्याय व्यवस्था पर आधृत वर्तमान न्यायिक प्रणाली से न्याय लम्बा, मंहगा तथा जटिल हुआ है, गुणवत्ता के ह्रास के साथ मुकदमों में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है। प्रस्तुत शोधपत्र हिन्दू न्यायिक व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में यह जानने का प्रयास है कि वर्तमान न्याय प्रणाली लोक समाज की अपेक्षाओं पर कितनी खरी उतरी है। इस शोध कार्य में अतीत की न्याय व्यवस्था के सकारात्मक पहलूओं का समावेशन कर विद्यमान चुनौतियों से निपटने एवं बेहतर न्याय व्यवस्था हेतु समाधान तलाशे गए हैं।

मुख्य शब्द–न्यायपालिका, पंच परमेश्वर, ईज ऑफ़ जस्टिस, मत्स्य न्याय, गूढ़ाजीव, कोलेजियम।

प्रस्तावना–आपसी झगड़ों को निपटाने के लिए "मत्स्य न्याय" की वैयक्तिक अथॉरिटी के विपरीत सभ्य समाज में शासन की सभी पद्धतियों में औपचारिक स्वायत्त या शासकीय न्यायिक संस्थाएं मौजूद रही हैं। सटीक न्याय निर्णयन में तथ्यों की पड़ताल कर मामले की तह तक जाकर सत्य का अन्वेषण एवं प्रचलित विधि अनुसार दण्डित करना शामिल है। वस्तुपरक तथ्य और साक्ष्य आधारित निर्णय में तटस्थता एवं निष्पक्षता जबकि न्यायकर्ता के आत्मनिष्ठ तत्व से इसमें रचनात्मकता एवं व्यापकता आती है। यह परीक्षित किया जाना है कि क्या प्रलोभन और व्यक्तिपरक पूर्वाग्रह के निर्णय को दूषित कर सकने की संभावना के आधार पर प्राचीन न्याय तंत्र में सुनवाई के स्तर सीमित रख न्यायपीठ को बहुसदस्यीय बनाया गया था। प्रश्न यह है कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में बढ़ते मुकदमों, सामान्यजन की न्याय तक सीमित पहुँच, लम्बी एवं महंगी न्याय प्रक्रिया एवं विरोधाभासी फैसलों से लोक बहस में आई हुई न्याय व्यवस्था की साख में पुरातन हिन्दू न्याय व्यवस्था कितनी कारगर है। इसमें सहज, सस्ते, त्वरित, पारदर्शी और निष्पक्ष न्याय प्राप्ति की वर्तमान चुनौतियों के निवारण हेतु अतीत की निर्णयन पद्धति से सामूहिकता एवं जवाबदेही का समावेशन कर प्राचीन न्याय व्यवस्था की पुनर्स्थापना की संभावनाओं पर विचार किया गया है। क्या संवैधानिक शक्तियों के

पृथक्करण के बावजूद राज्य के तीनो अंगों विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की परस्पर सीमाओं में घुसपैठ, न्यायिक तंत्र में प्रक्रियागत खामियों, कानूनी बारीकियों और जटिलताओं से उत्पन्न विश्वास के संकट को नई व्यवस्थाओं एवं सांस्थानिक न्यायिक बदलावों से सुधार संभव है। शोध पत्र में वैदिक एवं परवर्ती हिन्दू न्याय विधानों में वर्णित व्यवस्था, विदेशी शासन द्वारा लागू की गई न्याय प्रणाली एवं वर्तमान लोकतंत्रीय न्याय व्यवस्था के अध्ययन हेतु साहित्यिक ग्रंथों वेद, स्मृतियों, देशी–विदेशी यात्रा वृतांतों, भारतीय संविधान एवं न्यायिक घटनाओं को आधार बनाया गया है। शासन एवं न्याय तंत्र के आपसी सम्बन्ध, न्यायिक संरचना, संगठन एवं कार्यप्रणाली सम्बन्धी पूर्व शोधों में जो प्रक्रियात्मक एवं संस्थागत सुझाव अब तक सामने आए हैं, वे सतही और अपर्याप्त साबित हुए हैं। इसलिए गुलामी के कालखंड में विदेशी शासनिक वैचारिकी तथा स्वतंत्र भारत की संविधान आधृत न्याय प्रणाली में विद्यमान एवं आसन्न समस्याओं एवं चुनौतियों से मुकाबले हेतु समस्या की जड़ पर प्रहार किया जाना है। शोध पत्र वैदिक न्यायिक संस्थाओं, कौटिलीय अर्थशास्त्र, मनु, गौतम, नारद आदि विभिन्न व्यवस्थाकारों एवं स्मृतिकारों द्वारा स्थापित न्यायिक व्यवस्थाओं से तत्कालीन सामाजिक स्थायित्व एवं आर्थिक दशा के आधार पर एक ऐसा न्यायिक मॉडल प्रस्तुत करने का प्रयास है जो न्यायिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में उपयोगी साबित हो सकता है। प्रस्तुत शोध पत्र में न्याय निर्णयन में सामूहिकता हेतु एकाधिक न्यायकर्ताओं की पीठ की अनिवार्यता, उनकी चयन प्रक्रिया एवं मध्यवर्ती न्यायालयों के बहुस्तरीय ढांचे के अध्ययन तक सीमित रखा है। साथ ही लोक समाज में न्यायिक तंत्र की साख कायमी के साथ ही आधुनिक सुशासन की संकल्पना **ईज ऑफ़ जस्टिस** की स्थापना हेतु वेद, स्मृति, अर्थशास्त्र एवं परवर्ती शासनिक व्यवस्थाओं में विद्यमान न्यायिक नियुक्ति प्रणाली, न्यायालयों की कार्यप्रणाली, उसके सामाजिक–आर्थिक प्रभावों को क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित रूप से स्पष्ट कर न्यायिक घटनाओं, परिणामों और तथ्यों की समीक्षा कर तुलनात्मक अध्ययन एवं विश्लेषण किया गया है।

उद्देश्य–शोध कार्य निम्न बिंदुओं को ध्यान में रखते हुए सम्पादित किया गया है।

- प्राचीन भारत की न्याय पद्धति में न्यायालय संरचना को स्पष्ट करना।
- सटीक एवं समयबद्ध न्याय प्राप्ति में बहुसदस्यीय न्यायिक पीठ की भूमिका एवं औचित्य का अध्ययन करना।
- वर्तमान न्याय प्रणाली के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था की प्रासंगिकता एवं उपादेयता का विवेचन करना।

साहित्य समीक्षा एवं शोध प्रविधि–प्रस्तुत शोध कार्य में वैदिक साहित्य, मनुस्मृति, कौटिलीय अर्थशास्त्र, इनकी टीकाओं, परवर्ती देशी विदेशी यात्रियों के वर्णन, लोक कथाओं में न्याय की संकल्पना एवं संविधान में उल्लिखित न्याय प्रक्रिया को आधार बनाया गया है। शोधपत्र में विवरणात्मक, गुणात्मक और विश्लेषणात्मक प्रविधि का प्रयोग करते हुए प्राचीन एवं नवीन पुस्तकों, ग्रंथों, ऐतिहासिक दस्तावेजों में वर्णित न्याय एवं दण्ड विधानों, संवैधानिक न्यायिक प्रावधानों एवं दृष्टांतों से प्राचीन काल से वर्तमान तक की न्यायिक प्रणाली के विकास को व्याख्यित किया है।

परिणाम एवं विमर्श

1 न्याय की संकल्पना

सामाजिक निकाय या राज्य की स्थापना से पूर्व घटित अपराधों में प्रतिशोध पर आधारित "मत्स्य न्याय" के अंतर्गत पीड़ित पक्ष अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपराधी से बदला लेता था। पीड़ित पक्ष को न्याय प्रदान करने में सामाजिक संस्थाओं की अपनी मर्यादाओं एवं सीमाओं ने एक और बेहतर संस्था "राज्य" की नींव रखी। मत्स्य न्याय की व्यक्तिगत आथोरिटी से समाज और राज्य के हाथों में आने से न्याय प्रक्रिया ने औपचारिक एवं संस्थागत स्वरुप अख्तियार किया। पूर्व वैदिक काल में परम्पराएं एवं प्रथाएं ही कानून थे। प्राचीन भारत में विधि और संरक्षण निरपवादिक रूप से "धर्म" से सम्बद्ध रहा है। कबीलाई संस्कृति में एक छोटे जनसमूह में उनका मुखिया "राजन" अपने सदस्यों को सुरक्षा एवं न्याय प्रदान करता हुआ धर्म व्यवस्था से पृथक् नहीं था। उत्तर वैदिक काल में व्यवस्थित होते समाज में शासक की और अधिक सशक्त हुआ। राज्य, सभा और समिति से नियंत्रित एवं संचालित

था। हिन्दू कालखण्ड में राजा की सर्वोच्चता के बावजूद धर्म या विधि के अधीन शासक का कार्य विधि का निर्माण न होकर धर्म के अनुरक्षण तथा प्रवर्तन का था। हिन्दू शासन में सदैव से न्यायिक संस्थाएं शासक के अधीन रहने के बावजूद भी न्यायिक कार्य में हस्तक्षेप से परे थी। कालांतर में बृहस्पति, नारद और मनु जैसे धर्मवेत्ताओं ने न्याय प्रशासन की आचार संहिता निर्मित कर न्यायविदों को भी दण्ड के दायरे में रखा। मैगस्थनीज के अनुसार भारतीयों के पास लिखित कानून नहीं थे और ये सब बातों का निर्णय स्मरण शक्ति के आधार पर करते थे।[1] सामाजिक परम्पराएं और प्रथाएं ही धर्मशास्त्र एवं स्मृतियों के रूप में संहिताबद्ध हुई हैं फिर भी विरोधाभास की स्थिति में राज्याज्ञा ही विवाद निपटारे में अंतिम कानून थी। प्राचीन भारत में सुरक्षा शासन का बाह्य दायित्व तो न्याय प्रदत्त करना उसकी आंतरिक जिम्मेदारी थी। इसके अतिरिक्त विषय समाज अपने स्तर से ही निपटाते थे। परन्तु वर्तमान व्यवस्था में समाज प्रत्येक मामले, पड़ोसी से मारपीट से लेकर आतंकवाद, घुसपैठ, करप्शन तक, राज्याश्रित होकर न्यायपालिका के हस्तक्षेप के अधीन है। वर्तमान शासन व्यवस्था में विधायिका विधि निर्माण, कार्यपालिका इसकी अनुपालना एवं न्यायपालिका विधि के औचित्य एवं अनुपालना की समीक्षा करती है।

2 न्यायालय एवं न्यायिक पीठ

भारत में न्याय को दैवीय कार्य मानते हुए न्यायकर्ता से इसी अनुरूप व्यवहार की अपेक्षा रही है। परन्तु स्वभावजन्य दोषों के कारण निर्णय न्यायकर्ता स्वयं की विचारधारा एवं पूर्वाग्रह से प्रभावित होने की संभावना बनी रहती है। इसलिए सहज, सस्ते, त्वरित एवं निष्पक्ष न्याय हेतु प्राचीन भारतीय व्यवस्था में विभिन्न आचार्य एवं स्मृतिकार स्थानीय पंच प्रणाली को सशक्त करते हुए मध्य एवं उच्चस्तरीय शासकीय न्यायिक संस्थाओं में बहुसदस्यीय न्यायिक पीठ स्थापित करने एवं नियुक्तियों में विशेष सावधानी बरतने का परामर्श देते हैं। प्राचीन भारत में शासन व्यवस्था के परिचालन के लिए सभा और समितियां के साथ प्रौढ़ों की राजसभा, जन सामान्य की सार्वजनिक सभा, व्यापारियों के मंडल, राज्यों के संघ और कुलों की ग्रामसभाएं प्राचीन भारत में अस्तित्ववान थीं। वैदिक साहित्य में सभा संस्था द्वारा लोकतान्त्रिक तरीके से धर्माधारित सामूहिक निर्णय का उल्लेख है।[2] कौटिलीकृत अर्थशास्त्र में त्रिस्तरीय न्यायालयों में शासकीय न्याय संस्थाओं में बहुसदस्यीय न्यायिक पीठ का वर्णन है। सीमावर्ती चौकियों, विभिन्न ग्रामसमूह और प्रांतीय मुख्यालयों पर तीन न्यायाधीशों की पीठ न्यायालय का संचालन करती थी। कौटिल्य सिविल, राजस्व एवं आपराधिक प्रकरणों हेतु मध्य स्तर पर त्रि–सदस्यीय अमात्यों की खण्डपीठ वाले धर्मस्थीय एवं प्रदेष्ट्रा विचारण न्यायालय एवं सर्वोच्च पायदान पर राजा द्वारा अधिकृत अमात्यों के नृप न्यायालय के गठन का पक्षधर है। विवाद की विषयवस्तु अनुसार निचले स्तर पर स्थानीय लघु विवादों हेतु ग्राम या ग्राम समूह न्यायालय, नगरीय निकाय, व्यापारिक संघों के श्रेणी न्यायालय, कुलों या संगठन विशेष के न्यायालयों द्वारा अपने सदस्यों के मध्य झगड़ों का निस्तारण व्यावसायिक और कुलीय परम्पराओं के अनुसार होता था। ग्राम एवं नगरीय स्तर पर ग्राम प्रधान, ग्रामवृद्ध एवं नगराध्यक्ष "नागरिक", वणिक, व्यापारी, शिल्पी आदि के गैर शासकीय संगठन एवं श्रेणियां न्यायालय के रूप में कार्य करते थे। स्थानीय विवादों और लघु अपराधों के मूल कारणों की समझ के साथ निष्पक्ष और शीघ्र न्याय संभव था। इससे राज्य पर प्रशासनिक भार एवं व्यय कम हुआ। तत्कालीन यूनानी राजदूत मैगस्थनीज के यात्रा वृतांत में वर्णित प्रत्यक्ष अनुभवों में कानूनों के निष्ठापूर्वक प्रवर्तन होने के भारतीय लोगों के मुक़दमेबाज होने एवं भारत में कम अपराध होने का उल्लेख मिलता है।[3] इस काल में अधिवक्ताओं की उपस्थिति का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता था। इनकी अनुपस्थिति में उनका काम प्रक्विवाक् द्वारा निश्शुल्क किया जाता था। पैरवी का उद्देश्य अर्थी या प्रत्यर्थी के लाभ–हानि के बजाय अन्याय नहीं होने देना और धर्म की रक्षा के लिए था। मनुस्मृति में सलाहकारों के परामर्श से राजा द्वारा न्याय करने की बात की गई है। मनु के अनुसार एक प्राक्विक और तीन छोटे न्यायाधीशों की पीठ के द्वारा ही न्यायिक कार्य करने की बात कही गई है। गुप्त काल में भी ग्राम वृद्धों, अनुभवी न्यायकर्ताओं की अध्यक्षता वाली न्यायपीठ में तथा उच्च स्तर पर सभासदों के सहयोग से राजा द्वारा न्याय करने का उल्लेख है। राष्ट्रकूट शासन में सिविल एवं लघु प्रकृति के मामलों का निस्तारण ग्राम परिषद् के जिम्मे था। न्याय कार्य राजा और उसके मंत्रियों के सहयोग से किया जाता था। परन्तु व्यवहार में इस कार्य को

ग्राम समिति एवं निचली अदालतों को प्रत्यायोजित किया हुआ था। इस प्रकार ग्राम सभा से राजसभा तक सभी स्तरों पर निर्णय सामूहिक सहमति या बहुमत से ही किए जाते थे।[4] प्राचीनकालीन न्यायिक प्रणाली में न्यायालयों के संरचनात्मक ढांचे में देश और कालिक वैषम्यताओं के बावजूद भी अवधारणात्मक रूप से यह साम्य था कि पूर्वाग्रहों से मुक्त और निष्पक्ष न्याय के लिए न्यायिक कार्य एक अधिकारी के स्थान पर कई न्यायाधीशों की खण्डपीठ द्वारा सम्पादित किया जाता था। मुग़ल एवं अंग्रेजी शासन में विदेशी वैचारिकी से न्यायिक प्रणाली प्रभावित रही परन्तु ग्रामीण व्यवस्था को पूर्णतया भेद नहीं सकने के कारण इस शासनकाल में भी स्थानीय स्तर पर आजादी से पूर्व तक हिन्दू न्याय व्यवस्था बनी रह सकी। हिन्दू कालखण्ड में स्थानीय अशासकीय संस्थाएं पंच परमेश्वर की अवधारणा अनुसार न्याय करती थी। "पंच न किसी का दोस्त होता है, न दुश्मन। पंच में तो परमेश्वर वास करते हैं।" मुंशी प्रेमचंदकृत "पंच परमेश्वर" कहानी की यह उक्ति, सम्राट विक्रमदित्य की सटीक न्याय व्यवस्था और न्यायपीठ से सम्बंधित "न्याय के टीले" की कथा आज भी लोकस्मृति में रहकर न्यायिक पीठ की गरिमा, लोक विश्वनीयता एवं महत्ता को स्पष्ट करती है। अरस्तु का यह कथन कि "masses of men together are wiser and better than the single individuals who compose them". भी सम्मिलित विधिक समूह से उत्कृष्ट न्याय को पुष्ट करता है। व्यासस्मृति के अनुसार व्यवसायियों, शिल्पियों और कलाकारों के आपसी विवादों को विशेषज्ञों के संघ से निर्णीत कराएगा। स्मृतिकार शुक्र एवं बृहस्पति के अनुसार नृप न्यायालय के साथ अधिकृत अधीनस्थ कुल, संघ के लिए अदालतें होंगी।[5] राजपूती शासन व्यवस्थाओं में जनसामान्य की संस्था पंचकुल, मण्डपिका, पंचायत, चोतरा, चोरा, हथाई में अपने अधीनस्थ क्षेत्र की भूमि सम्बन्धी विवादों का निपटारा करने की परम्परा थी।[6] इन स्थानीय स्वायत्तशासी संस्थाओं द्वारा बिना शासकीय हस्तक्षेप न्याय करने का वर्णन है। सल्तनत, मुग़ल एवं औपनिवेशिक शासन में भी ग्रामीण क्षेत्रों में ये सामाजिक संस्थाएं अस्तित्व में रही हैं। अंग्रेजों द्वारा कानूनों के संहिताबद्ध करने से पूर्व तक के हिंदू और इस्लामिक कालखंड में भारत के निवासियों के लिए यही धर्म व्यवस्था लागू रही थी।

3 न्यायिक नियुक्ति एवं न्यायाधीशों का आचरण

भारतीय राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली में न्याय विभाग शासन तंत्र से एक निश्चित सीमा तक ही पृथक् था। न्याय की सर्वोच्चता राजा में निहित थी और वह कार्यपालिका, विधायिका एवं न्याय प्रशासन का प्रधान था। न्याय विभाग राज्य के सहायक की भूमिका में था।[7] वैदिक काल से लेकर हिन्दू शासन व्यवस्था में न्यायिक तंत्र पर समाज एवं राज्य के नियंत्रण के बावजूद न्यायकर्ता निर्णय हेतु स्वतंत्र थे। इसी अनुरूप प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था में निर्णय की गुणवत्ता और निष्पक्षता बनाए रखने के लिए निर्णय में सामूहिकता का समावेशन आवश्यक माना गया था। गौतम स्पष्ट रूप से एकाकी निर्णय का निषेध करते हैं।[8] प्राचीन भारतीय न्याय प्रणाली में न्यायिक पीठ पर आसीन व्यक्ति में दैवीय स्वरुप से सच्चाई को सामने लाने की अपेक्षा की गई है। आचार्य कौटिल्य का मत था कि अमात्यों की नियुक्ति के पश्चात् उन्हें सीधे ही पद विशेष पर नियुक्त नहीं करना चाहिए अपितु उन्हें सामान्य पद पर नियुक्ति दी जानी चाहिए। कौटिल्य धर्मोपधा परीक्षण में उत्तीर्ण अमात्यों को न्यायिक कार्यों के लिए उपयुक्त एवं योग्य मानते हैं। धर्माधिकारी न्यायाधीशों को योग्य, न्यायप्रिय और निष्पक्ष होने के लिए चुनने का सुझाव देते हैं ताकि वे न्यायपूर्ण निर्णय दें और समाज में न्याय की बढ़ोतरी करें। एक कुलीन, राष्ट्र भक्त, स्वदेश उत्पन्न, नीति निपुण व्यक्ति इसके लिए उपयुक्त माना गया था।[9] कदाचार की संभावना को देखते हुए कौटिल्य तेरह प्रकार के प्रच्छन्न लोक उत्पीड़कों अर्थात् गूढ़ाजीवियों में ग्राम प्रधान, कूटसाक्षी, कूटसुवर्ण व्यापारी आदि के साथ धर्मस्थ और प्रदेष्टा न्यायाधीशों को भी सम्मिलित कर उन्हें अपराध अनुसार दंडनीय मानता है।[10] न्यायाधीशों से भी संयमित, मर्यादित तथा पक्षपातरहित व्यवहार और आचरण अपेक्षित था अन्यथा उनके लिए भी स्थानान्तरण करने और दण्ड के प्रावधान थे।[11] महर्षि शुक्र भी गुप्तचरों के सहयोग से इन अमात्यों की छानबीन के पक्ष में हैं।[12] प्रगतिशील और अग्रगामी विचारधारा का अनुसरण करते हुए शुक समकालीन संकीर्ण मानसिकता के विपरीत मनु की तरह न्यायाधीशों की नियुक्ति में जाति के बंधन को नकारते हुए वर्ण–जाति के ऊपर योग्यता को वरीयता प्रदान की है।[13] पाश्चात्य जूरी व्यवस्था एवं

भारतीय पंचायत न्याय प्रणाली के ध्येय में साम्य होने के बाद भी इसके सदस्यों की चयन प्रक्रिया पर न्याय निर्भर करता है।

भारत में उच्च एवं सर्वोच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति हेतु संविधान के अनुच्छेद 124 अनुसार इनकी नियुक्ति इन दोनों न्यायालयों के न्यायाधीशों से परामर्श उपरांत राष्ट्रपति द्वारा किए जाने का उल्लेख है। परन्तु 99वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा कॉलेजियम प्रणाली के स्थान पर सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए एक स्वतंत्र राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग (NJAC) बनाकर इसकी सिफारिश पर बने गए कानून को उच्चतम न्यायालय द्वारा अभिखंडित करने के बाद न्यायाधीशों के अब कोलेजियम द्वारा ही ये नियुक्तियां की जा रही है।[14] जजों द्वारा जजों की नियुक्ति की कोलेजियम व्यवस्था से नेपोटिज्म, आचरण में कदाचार, अत्यधिक न्यायिक सक्रियता, न्यायिक अतिरेक के मामलों से शासन में न्यायिक पृथक्करण की अवधारणा को धक्का लगा है।

4 वर्तमान न्यायिक परिदृश्य

वर्तमान व्यवस्था में न्यायपालिका के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय, उच्च न्यायालय, जिला एवं मेट्रो न्यायालय तथा ग्राम न्यायालयों सहित अधीनस्थ न्यायालय स्थापित हैं। 2 मई 2025 की स्थिति अनुसार इन न्यायालयों में 5 करोड़ 23 लाख से अधिक सिविल एवं आपराधिक मुक़दमे लंबित हैं। जिला न्यायपलिका अंतर्गत 4 करोड़ 59 लाख से अधिक लंबित मुकदमों में से एक वर्ष तक के 30% तथा 5 वर्ष के अधिक समय के 30: से अधिक शामिल हैं। उच्च न्यायालय में ये आंकड़े क्रमशः 62 लाख 96 हजार से अधिक, 22% एवं 48% है। उच्चतम न्यायालय में लंबित 81,795 मुकदमों में से 33.04% एक वर्ष के अंदर दर्ज हुए हैं।[15] इसके अतिरिक्त राज्यों के विभिन्न राजस्व, ट्रिब्यूनल्स एवं न्यायालय उपभोक्ता, श्रम आदि न्यायालयों में करोड़ों की संख्या में और भी प्रकरण विचाराधीन हैं। बढ़ते मुकदमों के साथ ही कोर्ट में गिने चुने अधिवक्ताओं के वर्चस्व का आरोप, मंहगी फीस, पीआईएल के माध्यम से शासन पर दबाव, मनमाफिक फैसलों के लिए बेंच विशेष में केस लगाने के मामले, हाल ही में हाईकोर्ट के एक सेवारत जज के यहाँ करोड़ों रूपये कैश मिलने की घटना से न्यायपालिका के प्रति लोकभरोसा डगमगाया है। औपनिवेशिक भारत में न्याय तंत्र पर धनाढ्य और कुलीन वर्गों का प्रभुत्व रहा है। आज न्यायालयों में सुनवाई की लम्बी प्रक्रिया में धन के अभाव में सामान्यजन के लिए न्याय की लम्बी लड़ाई लड़ा जाना कठिन हुआ है। इसके विपरीत मुगलकालीन न्याय रुक्ष, अपरिष्कृत और उद्यत प्रकार का होने के बाद भी निष्पक्ष, त्वरित और कम खर्चीला था।[16] न्यायपालिका की अतिसक्रियता, अव्यवहारिक फैसलों एवं प्रभुत्ता स्थापित करने की प्रवृत्ति से कई बार सरकार और न्यायपालिका के बीच विवाद की स्थिति पैदा हुई है। हाल ही में एक ही मामले में हाईकोर्ट की दो पृथक् बेंच्स के असंगत एवं विरोधी निर्णयों पर की गई सुप्रीम कोर्ट की टिप्पणी न्यायपालिका के अंतर्विरोधों के साथ पूर्वाग्रह एवं मनमानी पूर्ण न्यायिक व्यवहार को दर्शाती है।[17]

निष्कर्ष

समाज की स्थापना के बाद ही न्याय हेतु न्यायिक संस्थाएं अस्तित्व में आई हैं। न्याय तंत्र में मध्यवर्ती न्यायालयों के आधिक्य एवं एकल न्यायिक पीठ में न्यायकर्ता की व्यक्तिपरक सोच से न्याय और अंततोगत्वा समाज प्रभावित होता है। इसलिए सभी प्राचीन विधिक न्यायिक संस्थाएं "ग्राम सभा से राजसभा तक" सामूहिकता में मामलों का निपटारा किए जाने सटीक, समयबद्ध एवं निष्पक्ष न्याय संभव हुआ। हिन्दू कालखंड के स्मृति तथा व्यवस्थाकारों ने स्थानीय लघु मामलों हेतु सामुदायिक निर्णय हेतु स्वायत्तशाषी संस्थाओं एवं साहस कोटि के हिंसासंभव और अर्थसम्बन्धी प्रकरणों की जिम्मेदारी बहुसदस्यीय न्यायिक पीठ को प्रदान की थी। इस व्यवस्था से विवाद के वस्तुनिष्ट तत्त्वों के एकीभूत (CONVERGENCE) होने और न्यायाधीशों के स्वपरक विचारों के छितराव (DIVERGENCE) के सम्मिलन से उचित, शीघ्र एवं गुणात्मक निर्णय संभव हुआ। हिन्दू व्यवस्था में न्यायविदों को बिना विशेषाधिकार दिए उनका उत्तरदायित्व निर्धारित कर दण्ड व्यवस्था के अधीन रखा गया। लोकधारणा में पंचों द्वारा सच्चे न्याय करने

हेतु दैवीय गुणों की उपस्थिति आज भी परिलक्षित होती है। गुलामी के एक लंबे कालखंड के बाद आजाद भारत में अंगीकृत ब्रिटिश न्याय व्यवस्था भारतीय जनमानस के अनुकूल नहीं होने के परिणाम सामने आ रहे हैं। मुकदमों के बढ़ते बैकलॉग, न्याय हेतु दुरूह हुई आमजन की पहुँच, शासन के विभिन्न अंगों में टकराहट एवं लोकविमर्श में दांव पर लगी न्यायपालिका की साख की पृष्ठभूमि में प्राचीन न्याय प्रणाली की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ है। वर्तमान परिस्थितियों में न्याय को विलम्बित करने या न्यायिक प्रक्रिया के दुरूपयोग करने की स्थिति में सम्बंधित हिताधिकारियों की जिम्मेदारी तय होने पर ही न्यायिक उत्तरदायित्व और न्यायिक स्वातन्त्र्य के मध्य संतुलन स्थापित हो सकता है। मुक़दमे के प्रारम्भ से अंतिम निर्णय तक लगे समय एवं इस पर हुए खर्चे की कसौटी पर न्याय व्यवस्था का मूल्यांकन किया जाना है। न्यायपालिका के न्यायाधीश नियुक्ति के कोलेजियम सिस्टम (जजों द्वारा जजों की नियुक्ति) को "लोकतंत्र में विद्यमान राजतंत्र" के उदाहरण की तरह पेश किया जा रहा है। प्राचीनकाल में न्यायाधीशों के सार्वजनिक जीवन के विपरीत न्यायाधीशों द्वारा न्यायपालिका के अंदर अपना अलग संसार निर्मित कर प्रभुत्व हेतु सभी शक्तियां अपने में समाहित करने के आरोप हैं जिससे राज्य की विधायिका एवं कार्यपालिका से टकराव की घटनाएं सामने आई हैं।

सन्दर्भ सूची

1.स्ट्रेबो, क्लासिकल एकाउंट्स, पृष्ठ 270.
2.गैरोला, वाचस्पति, (1984), कौटलीय अर्थशास्त्रम् संस्कृत–हिन्दी, चौखम्बा प्रकाशन, तृतीय संस्करण, वाराणसी,पृष्ठ 7.
3.बाशम, ए. एल., अद्भुत भारत, शिवलाल अग्रवाल एंड कम्पनी, आगरा, पृष्ठ. 93.
4.एन्सिएंट इण्डियन हिस्ट्री एंड कल्चर, न्यू ऐज, न्यू दिल्ली, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, 1988 पृष्ठ 411
5.भट्टचार्जी, एस एन एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ़ लॉ एंड जस्टिस इन इंडिया (फ्रॉम द अर्लीएस्ट टाइम्स) पृष्ठ 92–94
6.बीकानेर अभिलेखागार में उपलब्ध मालरी बही वि सं 1854, 1856,1857 आदि, राजस्थान थ्रू दि एजेज, हेरीटेज ऑफ राजस्थान, वॉल्यूम।, सम्पादक गुप्ता आर.के. एवं बक्शी एस.आर.,पृष्ठ 181–82.
7.जायसवाल, डॉ0 सुरेंद्रकुमार, हिन्दु राज शास्त्र, पृष्ठ 59.
8.खेमराज श्रीकृष्णदास, श्रीवेंकटेश्वर छापाखाना, मुम्बई शुक्रनीति, 2.8, पृष्ठ 37–38.
9.जायसवाल, सुरेंद्रकुमार, हिन्दू राजशास्त्र, पृष्ठ 145.
10.गैरोला, वाचस्पति, (1984), कौटलीय अर्थशास्त्रम्, संस्कृत–हिन्दी, चौखम्बा प्रकाशन, तृतीय संस्करण, वाराणसी, पृष्ठ 363.
11.विद्यालंकार, सत्यकेतु, (1992), मौर्य साम्राज्य का इतिहास, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, पृष्ठ. 266.
12.शर्मा, पद्मनाथ, शुक्र नीति में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएं, पृष्ठ 88.
12.मनु स्मृति, 8.21 131
14.भारत का संविधान 2024 (1 मई, 2024 को यथाविद्यमान), प्रकाशक, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली, पृष्ठ 57.
15. https:@@njdg-ecourts-gov-in
16.अग्रवाल,बालमुकुंद (2021), हमारी न्यायपालिका, (अनु.) पांडे, भवानी दत्त,राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत नई दिल्ली, पृष्ठ 27
17. "असंगत फैसलों से अदालतों पर कम होता भरोसा"–सुप्रीम कोर्ट, "सनक से ग्रस्त आदेश" हिंदी दैनिक, राजस्थान पत्रिका 2 मइ, 2025.